Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2018 SISRRJ | Volume 1 | Issue 2 | ISSN : 2581- 6306

आधुनिक विश्व–समाज में गीतोक्त ''ज्ञानकर्मसमुच्चय'' सिद्धान्त की प्रासंगिकता (काश्मीर शैवदर्शन के आलोक में)

डॉ0 सी0 के0 झा
एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, एम0पी0एन0 कॉलेज, मुलाना,
अम्बाला (हरियाणा)

शोध सारांश : भारतीयदर्शन की दार्शनिक विचारधारा सुदूर वैदिककाल से श्रुतिमूलक तथा आगममूलक इन दो प्रधान स्रोतों में प्राप्त होती है। इन दोनों स्रोतों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि निगमाश्रित सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा आदि दार्शनिक प्रस्थानों के विभिन्न पहलुओं पर जहाँ विद्वानों ने यथार्थ प्रकाश डाला है, वहीं आगमाश्रित शैव, शाक्त तथा वैष्णव धाराओं का विपुल साहित्य उपलब्ध होने पर भी उस दिशा में विशेष कार्य नहीं हुआ है। प्रस्तुत आलेख प्रत्यभिज्ञा–दर्शन से सम्बद्ध है, जो परमशिव की भावना को प्रकाशित करने वाला गंभीर एवं सूक्ष्म चिंतन प्रसूत दर्शन है। काश्मीर शैव–परम्परा, में यह ग्रन्थ मात्र ऐतिहासिक और धार्मिक ही नहीं है। वह चाहे रामकण्ठ की ''सर्वतोभद्र'' टीका हो या अभिनवगुप्त कृत ''श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रह'' टीका या फिर राजानक आनन्द प्रणीत आनन्दवर्धिनी टीका तीनों ने ही कुरूक्षेत्र युद्ध को सतत प्राणी मात्र में होने वाले दैवासुर (धर्म, अधर्म) संग्राम के प्रतीक के रूप में माना है। साथ ही तीनों का मुख्य प्रतिपाद्य ''ज्ञानकर्मसमुच्चय'' या ज्ञान कर्म का सहभाव ही है। क्रिया रहित ज्ञान पंगु है और बिना ज्ञान के कर्म अन्धा है। ज्ञान और क्रिया वस्तुतः एक पारमेश्वरी शक्ति का उत्तरोत्तर विकास है। परमशिव का स्वातन्त्र्य शक्ति ही चित्, आनन्द, ज्ञान, इच्छा एवं क्रिया संवलित है। अतः चिदानन्दज्ञानेच्छाक्रिया स्वातन्त्र्य शक्ति का स्वभाव होने से ज्ञान और क्रिया स्वरूप में अलग–अलग नहीं रह सकते। राजानक आनन्द ने ''आनन्दवर्धिनी'' में स्पष्ट रूप से कहा है कि ज्ञान और कर्म के समुच्चय से ही परमपुरुषार्थ की प्राप्ति सम्भव है। ज्ञान में जीवन की सत्यता तभी आती है जब उसे कर्म के खोखले में ढाला जाता है, और कर्म में नैतिकता तभी पनपती है जब उसे ज्ञान से परिमार्जित किया जाता है। कर्म से ही ज्ञान का विकास होता है और ज्ञान से कर्म में औचित्य का संचार होता है। अतः गीता ''ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मक'' ग्रन्थ है।

अब हम विचार करें कि आधुनिक विश्व समाज में गीतोक्त ''ज्ञानकर्मसमुच्चयसिद्धान्त'' की प्रासंगिकता क्या है? आज हमारी समस्याएँ इतनी गम्भीर हैं जितनी पहले कभी नहीं रही। सामाजिक और आर्थिक विषमता, अंधविश्वास, रूढ़िवादिता, मन्दिर–मस्जिद विवाद, जाति प्रजाति के भेदों में प्रतिक्षण बढ़ती हुई हिंसा के बीच क्या प्रत्येक व्यक्ति के मन में आज वही प्रश्न नहीं उठ रहा है, जो युगों–युगों से गीता में अर्जुन के मुख से सुनने को मिला है। यदि गीता का प्रमुख विषय ज्ञान तथा कर्म का समन्वय है तो कहना पड़ेगा कि यह स्थिति केवल विचारों में रही, आचार में पूर्ण रूप से कभी नहीं लाई जा सकी। यह सत्य है कि मनुष्य के इस जीवन में चिन्तन और कर्म में एक प्रकार का विरोध प्रतीत होता है। ज्ञान और कर्म के बीच सामंजस्य या समन्वय का अभाव समाज के विकास को एकांगी बना देता है। गीता की समन्वयात्मक विचारधारा ही हमारी राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान करने में प्रेरणा दे सकेगी। गीता का यह संदेश देश–काल की सीमा से बाहर शाश्वत है, सार्वभौम है तथा विश्व–शान्ति और विश्व–बन्धुत्व के लिए वर्तमान युग में भी इसकी प्रासंगिकता निर्विवाद है।

Received : 06 Aug 2018 | Accepted : 25 Aug 2018 | July-August-2018 [1 (2) : 214-219]

मुख्य शब्द– समाज, ज्ञानकर्मसमुच्चय, काश्मीर शैवदर्शन, ज्ञान, इच्छा, क्रिया, प्रत्यभिज्ञा, सार्वभौमिकता, विश्वशान्ति, क्रम।

श्रीमद्भगद्वगीता पर विभिन्न आचार्यों ने भाष्य लिखे हैं। उन भाष्यों पर भी विभिन्न सम्प्रदायों की टीकाएँ–प्रटीकाएँ उपलब्ध होती हैं और सभी सम्प्रदायों को उसमें अपने सिद्धांतों के दर्शन होते हैं। यही कारण है कि निगम तथा आगम दोनों परम्पराओं में यह आदरणीय ग्रन्थ है। काश्मीर शैवदर्शन में भी इसे प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया है। गीता के श्रीकृष्ण न वेदान्ती है और न तान्त्रिक अपितु सभी दर्शनों व धर्मों के सार को लोक कल्याणार्थ प्रस्तुत किया है। गीता के दर्शन में व्यावहारिकता है तथा यह अत्यन्त ज्ञानी और साधारण किसी भी पुरुष के द्वारा ग्राह्य और अनुकरणीय है। काश्मीर शैवदर्शन में यह ग्रन्थ मात्र ऐतिहासिक और धार्मिक ही नहीं है। चाहे वह रामकण्ठ की ''सर्वतोभद्रटीका'' हो या फिर अभिनवगुप्त कृत ''भगवद्गीतार्थसंग्रह'' या राजानक आनन्द प्रणीत ''आनन्दवर्धिनी'' टीका, तीनों का मुख्य प्रतिपाद्य ''ज्ञानकर्मसमुच्चय'' या ज्ञान कर्म का सहभाव ही है। क्रिया रहित ज्ञान पङ्गु है और बिना ज्ञान के कर्म अन्धा है। ज्ञान और क्रिया वस्तुतः एक पारमेश्वरी शक्ति का उत्तरोत्तर विकास है। इन ज्ञान और कर्म के समुच्चय से ही परमपुरुषार्थ की सिद्धि सम्भव है। गीता का ही यह असाधारण वैशिष्ट्य है कि वह अध्येताओं को परस्पर विरोधी विचारों के पोषण की सामग्री प्रस्तुत करती है और प्रत्येक अध्येता अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिए उसका सहारा लेता है। इसलिए श्रीमद्भगवद्गीता आध्यात्मिक अनुसंधान की केन्द्र बन जाती है।

शैव परम्परा में परमशिव की स्वातन्त्र्यशक्ति ही चित्, आनन्द, ज्ञान, इच्छा, क्रिया संवलित है। अतः चिदानन्दज्ञानेच्छाक्रिया स्वातन्त्र्य शक्ति का स्वभाव होने से ज्ञान तथा क्रिया स्वरूप में अलग–अलग नहीं रह सकती। परमेश्वर की इच्छा शक्ति ही उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति है, जिसमें ज्ञान–शक्ति और क्रिया–शक्ति सदैव अभेद रूप में स्फुरित होती है।[1] अतएव आत्मा ज्ञातृ–कर्तृरूप है। प्रत्येक क्रिया का कोई न कोई कर्त्ता आवश्य होता है। ज्ञान भी एक क्रिया है, अतएव उसका भी एक कर्त्ता होता है। इसी तरह प्रत्येक क्रिया कर्त्ता में होती है तथा वह कर्त्ता उस क्रिया का आश्रय होता है। इस प्रकार ज्ञान और क्रिया अभिन्न ही है। इस कारण काश्मीर शैवदर्शन में यह प्रतिपादित किया गया है कि जो ज्ञान है वह क्रिया शून्य नहीं है और जो क्रिया है वह ज्ञान रहित नहीं है।[2] परमेश्वर की इस चिकीर्षा रूप इच्छा में सब कुछ अन्तर्भूत है और वह सब वहाँ अभेद रूप से ही अवस्थित है।[3] राजानक आनन्द ने ''आनन्दवर्धिनी'' में स्पष्ट रूप से कहा है कि ज्ञान और कर्म के समुच्चय से ही परमपुरुषार्थ की प्राप्ति होती है।[4] ये दोनों ही एक ही वस्तु के दो रूप हैं। ज्ञान क्रियामय है और कर्म में कुशलता (योग निष्पादन) बिना ज्ञान के नहीं हो सकता।

'ज्ञानकर्मसमुच्चय' को समझने से पूर्व इसमें प्रमुख पदों पर पृथक रूप से विचार कर लेना परमावश्यक है। उसमें पहले ज्ञान शब्द आता है। 'ज्ञायते अनेन' इस व्युत्पत्ति से जिस विद्या के द्वारा यह जड़–चेतनात्मक समस्त विश्व ब्रह्मात्मक प्रतीत होता है, उसे ज्ञान कहते हैं। इस विषय में आचार्य शंकर का मत है कि जहाँ मन को शुद्ध करने के लिए साधन के रूप में कर्म अत्यन्त आवश्यक है, वहाँ ज्ञान प्राप्त हो जाने पर कर्म दूर छूट जाता है। ज्ञान और कर्म एक–दूसरे के वैसे ही विरोधी है, जैसे प्रकाश और अन्धकार। वह ज्ञान–कर्मसमुच्चय[5] के दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करता। उनका विश्वास है कि वैदिक विधियाँ केवल उन लोगों के लिए है, जो अज्ञान और लालसा में डूबे हुए है।[6] मुक्ति के अभिलाषियों को कर्मकाण्ड की विधियों का परित्याग कर देना चाहिए। शंकराचार्य के मतानुसार गीता का उद्देश्य इस बाह्य

(नामरूपमय) संसार[7] का पूर्ण दमन है, यद्यपि शंकराचार्य का अपना जीवन ज्ञान प्राप्ति के बाद भी कर्म करते जाने का उदाहरण है। शंकरचार्य के दृष्टिकोण का विकास आनन्दगिरि (13 शताब्दी), श्रीधर (1400 ईस्वी सन्), मधुसूदन (सोलहवीं शताब्दी) तथा कुछ अन्य लेखकों ने किया। बृहदारण्यकोपनिषद् के भाष्य में भी आचार्य शंकर ने यह मत व्यक्त किया है कि ''जब तक मनुष्य आत्मज्ञान सम्बन्धी विधि के अभिमुख न हो जाय तभी तक कर्म विधियाँ है।'' इसलिए कर्मों का आत्मज्ञान के साथ रहना सम्भव नहीं है। इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि आत्म ज्ञान ही अमृततत्त्व का साधन है, क्योंकि कर्म को ज्ञान की अपेक्षा नहीं है।[8] ब्रह्मात्मैक्य दर्शन के साथ कर्मों का सम्पादन स्वप्न में भी नहीं किया जा सकता।[9] इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शंकर ''ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद'' के कट्टर विरोधी प्रतीत होते हैं।

काश्मीरी शैवदर्शनों में चाहे वह प्रत्यभिज्ञा दर्शन हो या क्रम या कुल अथवा स्पन्द दर्शन सर्वत्र ही ज्ञान और कर्म की एकता का दर्शन होता है। राजानक आनन्द ने ''आनन्दवर्धिनी'' में गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ''ज्ञानसमुच्चय'' या ज्ञान कर्म का सहभाव ही माना है। इस प्रसंग में उन्होंने पुलस्त्य का वचन भी उद्धृत किया है। अज्ञानपूर्वक किया गया कर्म मानव के पतन का कारण भी हो सकता है। अतः बुद्धिमान पुरुष को इन दोनों मार्गों का इस रीति से अनुसरण करना चाहिए कि कर्म के बंधन उसे बाँध न सके और वह मोक्ष का अधिकारी भी हो सके। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि मुमुक्षु मानव की कर्म में प्रवृत्ति तथा कर्मफल से निवृत्ति होना ही दोनों मार्गों का समुच्चय है। समुच्चय का अर्थ है तत्त्व साक्षात्कार में ज्ञान और कर्म का साथ–साथ रहना या एक–दूसरे का सहायक होना।[10]

गीता के तृतीय अध्याय में ज्ञान और कर्म के प्रसंग में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से यह प्रश्न किया है कि यदि कर्म की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है तो फिर क्यों मुझे इस घोर कर्म (युद्ध) में लगाते हैं? एक ही साधन बताइए जिसका आश्रय ग्रहण कर मैं आत्म कल्याण प्राप्त कर सकूँ।[11] यहाँ अर्जुन की शंका का समाधान करते हुए श्रीकृष्ण ने बतलाया है कि ''ज्ञानकर्म–समुच्चय'' के अनुष्ठान से ही श्रेय की प्राप्ति है[12] अर्थात् ज्ञान कर्म के बिना विकसित नहीं होता और कर्म ज्ञान के बिना विकसित नहीं होता। दोनों मिलकर एक पुरुष साध्य विषया ही है।[13] इन दोनों मार्गों में भेद करना सम्भव नहीं है, क्योंकि जो केवल ज्ञानवादी हैं वे समस्त कर्मों को त्याग पूर्वक करते हुए अपवर्ग की अभिलाषा रखते हैं तथा ''ज्ञानकर्मसमुच्चय'' को मानने वालों के समस्त कर्म त्यागपूर्वक अनुष्ठित होते है किन्तु दोनों में एक ही फल की प्राप्ति होती है।[14] अभिनवगुप्त ने भी ज्ञान और योग के एकत्व का ही समर्थन किया है। यहाँ योग से उनका तात्पर्य कर्मयोग से है। उनका अभिमत है कि ज्ञान क्रियामय है और कर्म में कुशलता बिना ज्ञान के नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान और कर्म एक ही वस्तु के दो रूप हैं।[15] अभिनवगुप्त ने ज्ञान व कर्म को अपरिहार्य होने के कारण कर्म को ज्ञान के अन्तर्गत ही माना है।

ज्ञान और कर्म के समुच्चय का प्रतिपादन करने वाले वाक्य सिद्धान्त रूप में जिस प्रकार उपनिषद् पुराण, महाभारत आदि में उपलब्ध होते हैं उसी प्रकार स्मृति ग्रन्थों में भी अनुस्यूत है। ''मनुस्मृति'' में यह उल्लेख मिलता है कि तप तथा विद्या दोनों ही ब्राह्मण के लिए श्रेष्ठ है। द्विज तप के द्वारा पाप को दूर करता है तथा ब्रह्मविद्या के द्वारा मोक्ष को प्राप्त करता है।[16] राजानक आनन्द ने याज्ञवल्क्य स्मृति के वचनों को भी अपनी टीका ग्रन्थ में उद्धृत किये हैं, यथा गृहस्थ भी जो ज्ञानयुक्त कर्म करता है वह भी मोक्ष प्राप्त करता है।[17] पुनः उन्होंने पुराण के वचन को भी उद्धृत किया है कि ज्ञानपूर्वक कर्म करने से श्रेष्ठ द्विज मोक्ष को प्राप्त करता है।[18] 'हारीत स्मृति' में इसी तथ्य को सुन्दर उपमा द्वारा निरूपित किया गया है कि ''रथहीन घोड़े अथवा घोड़ों के बिना'' रथ सार्थक नहीं हो सकते उसी प्रकार तप बिना विद्या तथा विद्याहीन तप सार्थक नहीं हो सकता।[19] अनुगीता के अनुसार भी ज्ञान रहित कर्म के द्वारा व्यक्ति मोह को प्राप्त करता है।[20]

इस प्रकार विभिन्न शास्त्रों के उद्धरणों के द्वारा आनन्द यह प्रमाणित करते हैं कि ''ज्ञानकर्म समुच्चय'' के द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति सम्भव है। मुमुक्षु को काम्य कर्मों का त्याग तथा नित्य और नैमित्तिक कर्मों को अवश्य करना चाहिए। काम्य कर्म निषिद्ध है, क्योंकि वे बन्धन का कारण बनते हैं। किन्तु नित्य तथा नैमित्तिक न करने पर बन्धक होते हैं। अतएव पूर्णरूपेण कर्म का परिहार सम्भव नहीं है। गीता के ''ज्ञानकर्मसमुच्चय'' में कहीं–कहीं पर कर्म की प्रधानता का भी वर्णन मिलता है जिसकी पुष्टि महाभारत, स्मृति तथा उपनिषदों से होती है। 'ईशावास्योपनिषद्' में वर्णित है कि इस लोक के शास्त्र विहित कर्मों का आचरण करते हुए सौ वर्षों तक जीने की अभिलाषा करनी चाहिए।[21] अर्थात् शास्त्रोक्त स्वकर्म का पालन करना ही ईश्वर की पूजा है। यही गीता में भी निर्दिष्ट है कि जहाँ ज्ञानी अनेक जन्मों के पश्चात् और तलवार की धार पर चलकर पहुँचता है[22] वहाँ कर्मयोगी ''योगः कर्मसु कौशलम्''[23] की स्थिति में पहुँचकर जन्म रूप बन्धन से आसानी से मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान प्रधान ''ज्ञानकर्मसमुच्चय'' की भी ''गीता'' में असंख्य उदाहरण प्राप्त होते हैं, जिसमें कर्म का कोई विशेष महत्त्व नहीं रहता, कर्म केवल लोकसंग्रहार्थ किया जाता है। यहाँ पर कर्म का स्थान गौण भले ही हो पर उसकी सत्ता अवश्य होती है। जनकादि राजर्षियों को भी लोक–संग्रहार्थ कर्म करना ही पड़ा था।

अतएव हम देखते हैं कि गीता में ''ज्ञानकर्मसमुच्चय'' को यथेष्ट स्थान प्राप्त है। यह स्वयं परमेश्वर श्रीकृष्ण के वचन से ही सिद्ध होता है कि संन्यास योगियों और कर्मयोगियों के उक्त विरोधात्मक विचार समीचीन नहीं है। संन्यास और निष्काम कर्मयोग वस्तुतः एक ही है, परन्तु मूर्ख लोग पृथक्–पृथक् फल वाले मानते हैं न कि पण्डित। दोनों में से किसी एक निष्ठा में भलि–भाँति स्थित पुरुष दोनों के एक लक्ष्य रूप परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।[24] वस्तुतः ज्ञान और कर्म अन्योऽन्यापेक्षी है।

ज्ञान से कर्म की शुद्धि होती है और कर्म से ज्ञान की वृद्धि होती है ज्ञान के बिना कर्म अंधा है तो कर्म के बिना ज्ञान पङ्गु है। जिस प्रकार नौका और नाविक परस्पर एक–दूसरे पर आश्रित रहते हैं उसी प्रकार ज्ञान और कर्म भी परस्परापेक्षी है। अतः ज्ञान में जीवन की सत्यता तभी आती है जब उसे कर्म के खोखले में ढ़ाला जाता है और कर्म में भी नैतिकता तभी पनपती है जब उसे ज्ञान से परिमार्जित किया जाता है। कर्म से ही ज्ञान का विकास होता है और ज्ञान से कर्म में औचित्य का संचार होता है। अतः गीता ''ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मक'' ग्रन्थ है।

अब हम विचार करें कि आधुनिक विश्व समाज में गीतोक्त 'ज्ञानकर्मसमुच्चय'' सिद्धान्त की प्रासंगिकता क्या है? आज हमारी समस्याएँ इतनी गम्भीर है जितनी पहले कभी नहीं रही। सामाजिक और आर्थिक विषमता, अंधविश्वास, रूढ़िवादिता, मन्दिर–मस्जिद विवाद, जाति प्रजाति के भेदों में प्रतिक्षण बढ़ती हुई हिंसा के बीच क्या प्रत्येक व्यक्ति के मन में आज वही प्रश्न नहीं उठता है, जो युगों–युगों से गीता में अर्जुन के मुख से सुनने को मिला है। गीता के उपेदशों का पठन–पाठन तो इस देश में प्राचीन काल से होता रहा है। फिर भी ये समस्याएँ आज भी बनी हुई हैं। यदि गीता का प्रमुख विषय ज्ञान तथ कर्म का समन्वय है तो कहना पड़ेगा कि यह स्थिति केवल विचारों में रही, आचार में पूर्णरूप से कभी नहीं लाई जा सकी। मनुष्य इच्छा, ज्ञान, क्रिया, आनन्द एवं चित् का समिश्रण है। इसलिए वह अपनी आत्मा के सत्य प्रकाश का साक्षात्कार इन्हीं सब के द्वारा प्राप्त करने की चेष्ठा करता है। उसके अन्दर एक प्रकार की प्रेरणा है जो उसे बाध्य करती है कि वह उक्त भिन्न–भिन्न दिशाओं में इस अल्पज्ञ आत्मा से ऊपर उठ सके। गीता इस विषय पर विशेष बल देती है कि चेतनामय जीवन के किसी पक्ष को हम भुला नहीं सकते, अर्थात् सर्वतोमुखी उन्नति की आवश्यकता है।[25] परमात्मा स्वयं सत्, चित् और आनन्द स्वरूप हैं। जिस प्रकार परमेश्वर स्वयं अपने अन्दर स्वशक्ति को समाविष्ट रखता है, उसी प्रकार मनुष्य का उद्देश्य भी आत्मा को पूर्णता प्राप्त करने का होना चाहिए। यह सत्य है कि मनुष्य के इस जीवन में चिन्तन और कर्म में एक प्रकार

का विरोध प्रतीत होता है। ज्ञान और कर्म के बीच सामंजस्य या समन्वय का अभाव समाज के विकास को एकांगी बना देता है, समाज बिखरने लगता है। केवल ज्ञान और भक्ति समाज को कार्याकार्यव्यवस्थिति से अनभिज्ञ करा देती है। गीता की समन्वयात्मक विचारधारा ही हमारी राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान करने में प्रेरणा दे सकेगी। गीता का यह सन्देश देशकाल की सीमा से बाहर शाश्वत् है, सार्वभौम है तथा विश्व–शान्ति और विश्वबन्धुत्व के लिए वर्तमान युग में भी इसकी प्रासंगिकता निर्विवाद है। ऐसे समन्वयकारक आदर्श से विश्व के साथ मनुष्य की घनिष्ठता बढ़ती जाती है। इसके द्वारा मनुष्य और मनुष्य, मनुष्य और समाज, आदमी और प्रकृति के बीच एकत्व और समत्वबोध का विकास होगा। इस दृष्टि का उपयोग मनुष्य के लिए बेहतर जीवन, बेहतर समाज और बेहतर दुनिया बनाने में होगा। अद्वैतवादी विश्व दृष्टि को नवजागरण का वैचारिक आधार बनाया जाय तो न सिर्फ टूट और टकराव का वातावरण बदलेगा बल्कि मनुष्य, समाज और प्रकृति के बीच जैविक सम्बन्ध भी मजबूत होंगे, क्योंकि इस दृष्टि में अभेद एकत्व और समत्व अन्तर्निहित है और इसके बिना मानव समता का कोई भी आन्दोलन नहीं चल सकता। इसके बिना स्वार्थ से परार्थ और परमार्थ की तरफ आदमी बढ़ नहीं सकता तथा भूतार्थ में एक ही तत्त्व है इसका बोध भी नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि सर्वत्र एकत्व और समत्त्वबोध के द्वारा ही शान्ति स्थापित होगी।

आज आवश्यकता इस बात की है कि हमारे राजनेता, गुरु, गीता ग्रन्थित विचारों का प्रसार शिक्षा के माध्यम से करे। हम जानते हैं कि आज का छात्र ही कल समाज का रक्षक या प्रहरी होगा। फिर यदि उसमें चरित्र या आत्मबल का उचित विकास नहीं किया गया तो राष्ट्र का उद्धार सम्भव नहीं। अतएव औद्योगिक प्रतिष्ठानों, प्रशासनिक कार्यालयों तथा शिक्षण संस्थाओं में भी यदि गीता के विचारों का प्रचार हो तथा निष्काम कर्मयोग को सम्पूर्ण राष्ट्र ही अपने जीवन पद्धति बना लें तो भारत क्या, विश्व की सभी समस्याओं का समाधान हो सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गीता की शिक्षा का उपयोग मनुष्य की समस्याओं को सुलझाने के लिए वैकल्पिक विचारधारा के रूप में किया जा सकता है। इसकी उपयोगिता समस्त मानव जाति के लिए सिद्ध है। इसलिए इसकी सार्वभौमिकता और सर्वोपादेयता के सम्बन्ध में कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः। ई0प्र0वि0, भाग0 1.1.8.11.
2. न क्रिया रहितं ज्ञानं न ज्ञान रहिता क्रिया। नेत्रतन्त्र उद्योत टीका, भा0–1, पृ0 42
3. परामर्शो ही चिकीर्षारूपेच्छा, तस्यां च सर्वमन्तर्भूतं निर्मातव्यमभेदकल्पनास्ते। ई0प्र0वि0भा0 2, पृ0181
4. ज्ञानकर्मसमायोगात् परं प्राप्नोति पुरुषः। आ0, पृ0 8
5. तस्माद् गीतासु केवलादेव तत्त्वज्ञानान्मोक्षप्राप्तिः, न कर्मसमुच्चितात्। भगवद्गीता की शंकराचार्य की टीका, 2,11.
6. अविद्याकामवत् एव सर्वाणि श्रौतादीनि दर्शितानि। वहीं पर।
7. गीताशास्त्रस्य प्रयोजनं परं निःश्रेयसम्, सहेतुकस्य संसारस्य अत्यन्तोपरामलक्षणम्। गीता पर शंकराचार्य की टीका की भूमिका।
8. बृ0उ0 (शां0भा0) 4.5.15, पृ0 1154
9. न हि ब्रह्मात्मैकत्त्वदर्शनेन सहकर्म स्वप्नेऽपि सम्पादयितुं शक्यम्– मु0उ0 (शां0भा0) प्रथम खण्ड, पृ0 9
10. ज्ञानं प्रधानं न तु कर्महीनं कर्म प्रधानं न तु बुद्धिहीनम्।
    तस्मादुभाभ्यां तु भवेऽत्र सिद्धिर्नह्येकपक्षो गरुडः प्रयाति।।
    याज्ञवल्क्य स्मृति 3.57 के अपरार्ककृत टीका में उद्धृत तथा आ0 पृ0 8

11. गीता0 3.1
12. निष्ठा निर्वहणं ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानेनश्रेयः प्राप्तिरितीत्थं सिद्धान्तस्योक्तिः आ0, 3.3
13. द्वयसाध्या एक पुरुषविषया प्रोक्ता। वहीं पर।
14. समुच्चयवादिनस्तु कर्मणामत्यागेन, अनुष्ठानेनेति द्वयोरपि फलश्रुतिरस्ति।– सर्वतोभद्र, पृ0 117.
15. न क्रिया रहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया।
    ज्ञानक्रिया विनिष्पन्न आचार्यः पशुपाशहा।। गी0सं0 3–3.4
16. तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरावुभौ।
    तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते।। मनु0, 12.104, आ0पृ0 7 पर उद्धृत।
17. न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथि प्रियः।
    श्रद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते।। या0, 3.205 तथा आ0पृ0–8 पर उद्धृत।
18. एवं ज्ञानवतः कर्म कुर्वतोऽपि प्रजादिकम्।
    भवेन्मुक्तिर्द्विजश्रेष्ठ रैभ्यस्य वचनं यथा।। आ0, पृ0 9 पर उद्धृत।
19. यथाश्वा रथहीनास्तु रथा वाश्वैर्विना यथा।
    एवं तपोऽप्यविद्यस्य विद्या वाप्यतपस्विनः। वहीं पर।
20. मोहमेव हि गच्छन्ति कर्मणा ज्ञानवर्जिताः।। वहीं पर।
21. ई0, 2.
22. बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। आ0 7–19
23. तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्। गी0 2.50
24. सांख्ययोगौ पृथग्वालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। गी0 5.4
25. भारतीय दर्शन, डॉ0 राधाकृष्णन्, पृ0 510